

दलित आत्मकथाओं में दलितों का सामाजिक स्वरूप

सारांश

आत्मकथा में लेखक नितांत व्यक्तिगत अनुभव को व्यक्त करने के साथ समसामयिक परिवेश से अपने को मुक्त नहीं कर पाता हिन्दी की प्रारम्भिक आत्मकथाओं में आनन्द मनोरंजन हर्ष उल्लास वैभव को महत्व प्रदान किया गया है तो समकालीन दलित आत्मकथाओं में गरीबी, कुपोषण कुव्यवस्था के साथ शोषण-अत्याचार के विभिन्न रूपों का चित्रण है। दलित रचनाकार आत्मकथा शैली में जब भोगी गई पीड़ा को व्यक्त करता है तो उसमें अनुभव की प्रामाणिकता का आ जाना स्वाभाविक है जिस प्रकार हिन्दी का दलित साहित्य मराठी भाषा से प्रभावित और प्रेरित है उसी प्रकार आत्मकथाएं भी। दलित समाज का अलग से कोई लिखित इतिहास नहीं है लेकिन उसकी संवेदना, चेतना और अपेक्षाएं दलित समाज के लोगों में जरूर रहती है। जिसे दलित आत्मकथाओं में देखा जा सकता है गैर दलित समाज ने अपने पराजित अतीत का गौरवशाली इतिहास का रूप देने में जितनी ऊर्जा खर्च की है। उसका लेशमात्र भी दलित जीवन की अभिव्यक्ति पर व्यय नहीं किया गया। फलतः दलित समाज का लिखित इतिहास वैसा नहीं बन पाया जैसा होना चाहिए था। लेकिन अब वह निर्माणाधीन है दलित समाज अपने अनुभवों को पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप में ही हस्तगत करता आया है।

मुख्य शब्द : दायम, तगाओं, रूढ़, अन्यत्र, दर्जा, आभास, ओछापन, दुर्व्यहार, प्रताड़ित, शुद्र, पूर्वाभ्यास, ग्रस्त, मुआयना, पदवी, निजीकरण, मुकाम, आक्षेप, जुनून, कर्ज, बहुमूल्य।

सरिता

शोधार्थी

हिन्दी विभाग,

राजकीय महाविद्यालय,

बून्दी, राजस्थान

प्रस्तावना

दलित आत्मकथाओं के संदर्भ में डॉ. जयप्रकाश कर्दम का कहना है कि "समाज के जिस विद्रूप, वीभत्स, क्रूर और अमानवीय चेहरे पर गैर दलित लेखक पर्दा डालते आए थे और समाज जिस सच से साक्षात् नहीं करना चाहता था इन आत्मकथाओं ने समाज के उस नग्न सच को बेपरदा किया।"¹ बेचैन जी की यह टिप्पणी दलित आत्मकथाओं की सार्थकता को और स्पष्ट कर देती है। "दलित आत्मकथाएं सवर्ण समाज का संबोधित संवाद हैं, इसमें दायित्वबोध से भरे अनुभवों की आग है, किन्तु अपील की शक्ल में यह विचारों की वह मषाल है जिसे पिछली पीढ़ी अगली पीढ़ी को इस उम्मीद से हस्तगत करती है कि वह मुक्ति की राह रोपन करती रहे।"² हिन्दी साहित्य की प्रारम्भिक दलित आत्मकथाओं में मोहनदास नैमिषराय की, 'अपने अपने पिंजरे' (1995) और ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' (1996) अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है घ्योराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' तुलसीराम की 'मुर्दहिया' उमेश कुमार सिंह की 'दुख-सुख के सफर में' डॉ. धर्मवीर की 'मेरी पत्नी और भेड़िया' कोशल्या बैसन्त्री की 'दोहरा अभिशाप' सुशीला टाकमौरि की 'शिकंजे का दर्द' आदि हैं। ये आत्मकथाएं लेखक की आत्मपीड़ा के साथ सामाजिक संघर्ष को भी व्यक्त कर रही हैं।

दलित आत्मकथाकार सर्वप्रथम अपनी बस्ती, गांव की स्थिति से परिचय करवाता है जो उनकी सामाजिक संरचना में दायम स्थिति को स्पष्ट करता है। सदियों से हर दलित बस्ती गांव के बाहर ही होती हैं। तो जाहिर सी बात है कि दलित आत्मकथाकारों के घर भी गांव के बाहरी छोर पर ही रहे हैं। आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में मोहनदास नैमिषराय जी कहते हैं कि "मेरठ शहर में छोटी सी हमारी बस्ती और ढेर सारे हमारे दुःख । वे दुख दर्द व्यक्तिगत भी होते और सामूहिक भी, किसी के कच्चे घर की छत टपकती तो किसी के घर में दिवारों में पानी रिसता"³ दलितों के संघर्ष का पता उनके घरों से ही चल जाता है इसी तरीके के घर 'जूठन' आत्मकथा में भी नजर आते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी कहते हैं कि "मेरा जन्म मुजफरनगर जिले के बरला गांव की जोहड़ी के किनारे बने एक चूहड़े परिवार में होता है। एक ओर सवर्ण तगाओं के

मकान हैं तो दूसरी ओर दलितों के मकान और मकानों के पीछे गांव भर की जवान – बूढ़ी औरतों का खुला शौचालय है। इस तरह चारों ओर गन्दगी भरी होती है। ऐसी दुर्गन्ध उठती है कि मिनट भर में सांस घुट जाय। उनकी तंग गलियों में सुअर और कुचों के साथ नंग-धड़ंग बच्चे घूमते हैं। वर्णव्यवस्था को आदर्शव्यवस्था कहने वाले सवर्णों को यदि दो चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाए।⁴ ऐसे माहौल में ओमप्रकाश वाल्मीकि का बचपन बीता जिसकी यादों भरी कड़वी सच्चाई उनके जेहन में मौजूद हैं। यही हालात 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा में नजर आते हैं। "स्वतंत्र भारत की राजधानी दिल्ली से कुछ ही दूरी पर बसे हुए पश्चिमी उच्च प्रदेश के बदायूं क्षेत्र में श्यौराज सिंह की दलित बस्ती में अनेक प्रकार की यातनाओं अभावों को झेलते रहे हैं।⁵ अछूत जाति के लोगों को नियम के अनुसार गांव के बाहर बसाये जाते हैं। 'दोहरा अभिशाप' में भी कौषल्या बैसन्त्री ने यही उजागर किया है कि "दलितों की बस्ती सवर्ण बस्तियों से अलग होती थी। बस्ती से सटा नाला बहता था। सड़क के दूसरी ओर पक्की सड़के बनी थी जो सवर्ण मकानों की ओर जाती थी। दलित बस्ती में अधिकांश अछूत थे अनपढ़ और मजदूर।⁶ समाज में दलितों और सवर्णों के घर अलग-अलग होने से समाज की वर्ण व्यवस्था का पता चलता है। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि भारतीय गांव व्यवस्था में दलितों का जीवन भेदभाव रहा है।

हिन्दू समाज में ऊंच-नीच, छोटा-बड़ा, गरीब-अमीर हमेशा से रहा है। धर्म ग्रंथों, पंडे-पुजारी, सन्त-महन्तों ने जातिवाद को फैलाया है, इसकी जड़े हिन्दू समाज में गहरे तक जाती हैं जिसे भोगता है दलित समाज.....। दलित लेखकों ने अपने जीवन के जातीय-दंशों को और उनसे उपजी शोषण की विभीषिका को अभिव्यक्त किया है। जिससे जाति-व्यवस्था की अमानवीय विद्रूपता सामने आई है। आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में मोहनदास नैमिशराय जी भी यही बताना चाह रहे हैं कि जाति कभी नहीं जाती। "हमारे स्कूल को बाहर के लोग अक्सर चमारों का स्कूल कहा करते थे। जैसे चमारों का नल, चमारों का नीम, चमारों की गली, चमारों की पंचायत आदि।⁷ सन् 1931 की जनगणना के अधीक्षक जे.एच.हटन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक भारत में जाति प्रथा में भारतीय जाति प्रथा के बारे में लिखा था कि "भारत में जाति व्यवस्था जितनी जटिल सुव्यवस्थित और रूढ़ है उसकी मिसाल विश्व के किसी भी भाग में कहीं भी नहीं मिलेगी। वस्तुतः जब हम गहराई से सोचते हैं तो यही पाते हैं कि यह भारत में ही मिलती है अन्यत्र नहीं।⁸ उच्च जाति का होने की ग्रन्थि सवर्ण समाज की मानवीयता को अन्दर ही अन्दर खोखला कर रही है। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने हिन्दू समाज की विकृतियों का पर्दाफाश किया है। जाति व्यवस्था ने दलितों को ऐसे घाव दिए हैं जो असहनीय हैं "अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुचे-बिल्ली, गाय भैंस को छूना बुरा नहीं था, लेकिन यदि चुहड़े को स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इन्सानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपभोग खत्म,

इस्तेमाल करो, दूर फेंको।⁹ दलितों पर होने वाले जुल्मों की सख्या गांव में अधिक रही है। दलितों की तबाही और समस्याओं का मूल कारण जाति ही रही है। 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा में श्यौराज सिंह बेचैन भी अपने हालात कुछ इस तरह ही बयान करते हैं:- "जिन चमारों ने मवेशी उठाने का काम धन्धा छोड़ दिया था वे स्वयं को ऊंचे दर्जे का मानने लगे थे। जबकि माली हालत उनकी भी खराब थी। जाट- बामनों में इस तरह का काम नहीं होता था वे ऊंची जाति के थे। दलित व्यवसाय बदल कर नई सम्भावनाएं तलाशते के पक्ष में थे। सवर्णों को दलित जाति के कार्यों का न अनुभव था न जरूरत बल्कि इसका आभास भी अपमानजनक लगता था।¹⁰

दलित लेखकों की भांति दलित लेखिकाओं के साथ भी जातिगत भेदभाव हमेशा ही रहा है। 'षिकंजे का दर्द' आत्मकथा में सुषीला टाकभौर कहती हैं कि "मैं देखती थी, सवर्ण घरों में स्कूल से लौटे बच्चों पर घर के बाहर ही पानी छिड़क दिया जाता था और पहने हुए कपड़े उतारकर उन्हें दूसरे कपड़े पहनने के लिए दिए जाते थे। हमारे ही सामने वे नाक-भौं सिकोड़कर नफरत से कहते थे- न जाने कौन-कौन सी जात के बच्चों के साथ बैठकर पढ़कर आते हैं। सबकी छुआछूत घर में लाते हैं।¹¹ दलितोत्थान की चाहे कितनी भी बड़ी-बड़ी बातें की जाएं, किन्तु यह जाति का सच ज्यों का त्यों रहता है। 'दोहरा अभिशाप' भी इसी प्रकार की आत्मकथा है जहां जाति शब्द जुड़ा हुआ है। आत्मकथाकार बयान करती हैं कि- "सफाई कर्मचारियों से छुआछूत बरतते थे। उनके यहां कोई नहीं आता था न उनके बच्चों दूसरे बच्चों के साथ खेलते थे। दलित जाति के अलग-थलग रहकर अपने ही समाज में रहते थे। दलित जाति के पुरुष और औरतें सड़क बुहारने का पब्लिक लैट्रीन साफ करने का काम करती थी। सवर्ण जाति के लोग इनसे छुआछूत रखते थे।¹² जाति के कारण ही दलित समाज ऊपर उठने के लिए हमेशा से ही संघर्षरत रहा है। डॉ. उमेश कुमार सिंह अपनी आत्मकथा 'दुख-सुख के सफर में जातिभेदभाव को कुछ इस तरह बयान करते हैं-"तालाब में पशु लौटते थे, पंछी पंख भिगोते थे, परन्तु अछूतों को उस तालाब का पानी छूने तक की मनाही थी।¹³ दलितों को हमेशा उनके जातीय हीनता से दबा दिया जाता है तथा उनको जाति का ओछापन याद दिला दिया जाता है।

दलित को उसकी जाति के कारण हीनता का बोध होता है और स्वयं काफी अपमानित महसूस करता है। नैमिशराय जी कहते हैं कि "हम कही भी जायें, कितनी भी बड़ी कक्षा में पढ़ें, जातियां हमेशा पीछा नहीं छोड़ती। जहां भी हम जाते, वे भी बिना किसी रोक-टोक के जा पहुंचती थी। बल्कि हमारे साथ-साथ चलती, उठती बैठती थी। कभी-कभी तो सांप भी केंचुली त्याग देता है, पर आदमी अपनी जाति को केंचुली नहीं छोड़ पाता। वह जीवन से मृत्यु तक उसी केंचुली के भीतर रहता है।¹⁴

दलित आत्मकथाओं में जातिदंश सभी में लगभग एक जैसा ही रहा है। दलित आत्मकथाओं के साथ जातिगत दुर्व्यहार किया गया। कदम-कदम पर दलित

जाति का होने का अहसास कराया जाता रहा। दलितों को जाति के नाम पर प्रताड़ित करना सवर्णों के लिए आम बात थी। एक आदमी स्वयं को कितना अपमानित महसूस करता है तब उसके साथ भेदभाव किया जाता है ये आत्मकथाकारों से बेहतर कौन जान सकता है। इनकी स्वयं की भोगी हुई पीड़ा है। जाति का ऐसा बहुरूपिया रूप देखकर दिल को ठेस पहुंचती है। जाति के रूप में दलित आज भी सवर्णों के जुल्मों का शिकार हो रहा है।

दलित समाज के लिए कभी भी शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं रहा है। सवर्ण हमेशा से यही चाहते हैं कि दलित शिक्षा से दूर रहे और हमारी गुलामी करते रहे। पढ़ को शिक्षा ना मिले सारे शास्त्र इसी कोशिश में रहे हैं। दलित न पढ़े यह भावना आज भी लगातार जारी है। दलितों के लिए शिक्षा किसी मजाक से कम नहीं रही है। ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूठन' में अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए लिखते हैं— "जब मैं स्कूल में पढ़ा करता था मुझे स्कूल के कार्यक्रम से बाहर रखा जाता था। मुझे सांस्कृतिक कार्यक्रमों क्रियाकलापों से दूर रखा जाता था। ऐसे वक्त मैं सिर्फ किनारे खड़ा होकर दर्पक बना रहता था। स्कूल के वार्षिक उत्सव में जब नाटक आदि का पूर्वाभ्यास होता था, मेरी भी इच्छा होती थी कोई भूमिका मिले। लेकिन हमेशा दरवाजे के बाहर खड़ा रहना पड़ता था। दरवाजे के बाहर खड़े रहने की इस पीड़ा को तथा कथित देवताओं के वंशज नहीं समझ सकते।"¹⁵ शिक्षा के मंदिर में एक शिक्षक का ऐसा व्यवहार देखकर मन बड़ा दुखी होता था पर मजबूरन कुछ भी नहीं कर पाते थे। प्योराज सिंह बेचैन लिखते हैं कि— "स्कूल में जाने के बाद चोरी छिपे मरे हुए ढोर उठाने में शामिल रहता था। किन्तु वहां यह सब बहुत ही छिप-छिपाकर करना पड़ता था अन्यथा गांव में सवर्ण जाति के लड़के स्कूल में मेरा क्या हाल करते, कल्पनातीत था।"¹⁶ दलित आत्मकथाकारों को शिक्षा के लिए बड़ी जद्दोजहद करनी पड़ती थी।

शिक्षक का व्यवहार दलितों के लिए शिक्षक की गरिमा के एकदम विपरीत रहा है। कोई दलित शिक्षा ग्रहण करने का विचार भी लाता था तो सवर्ण मानसिकता से ग्रस्त शिक्षक दलितों को विद्यालय की देहरी से ही वापिस कर देता था। सूरजपाल चौहान ने आत्मकथा 'तिरस्कृत' में शिक्षक के लिए लिखा है कि वह जाति का ओछापन किस तरह याद दिलाते रहते थे। एक दिन सूरजपाल की ओर संकेत करते हुए कहा था— "यदि देश के सारे चुहड़े-चमार पढ़-लिख गए तो गली मोहल्लों की सफाई और जूते बनाने का कार्य कौन करेगा।"¹⁷

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि स्कूल का अध्यापक दलित को गली-मोहल्लों की सफाई और जूते बनाने के लिए अनपढ़ रखना चाहता है। इसी तरह आत्मकथा 'अपने-अपने पिजरे' में जब पी.टी. इंस्ट्रक्टर स्कूल में वर्दी मुआयना करते हैं तो लेखक और उनके दलित साथियों का अपमान करते हुए कहते हैं— "अबे तुमसे पढ़ने के लिए कौन कहता है। बस जुते-चप्पल बनाओं और आराम से रहो। चले आते हैं ससुरे न जाने कहां-कहां से।"¹⁸

शिक्षकों को ऐसा धिनौना रूप देखकर शिक्षक नाम पर विचार करने की जरूरत लगती है। शिक्षक को

गुरु की पदवी दी जाती है और उसी का ऐसा रूप देखने को मिलता है। दलित बस्तियों में शिक्षा का माहौल वैसे ही कम रहता है। अगर कोई पढ़ना चाहे तो दलित और सवर्ण उसकी टांग खींचने में लगे रहते हैं। यही सब डॉ. उमेश कुमार सिंह के साथ शिक्षा ग्रहण करने के दौरान हुआ था— "बुद्धिका और स्याही में सवर्ण छात्र पेषाब कर देते थे। शिक्षक उन्हें अधिक मारते, बात, बात पर बुरी तरह से पीट डालते थे। दलित छात्र अगर कभी शिकायत भी करे तो उनकी कौन सुनने वाला था।"¹⁹ शिक्षा ग्रहण करने में भी दलितों को सवर्णों और शिक्षकों से दो चार होना ही पड़ता था।

डॉ. तुलसीराम द्वारा लिखित 'मुर्दहिया' अपषकुन से शिक्षा तक के सफर को वर्णित करती है। शिक्षा से कौनसा परिवर्तन हो सकता है इसका आदर्श उदाहरण 'मुर्दहिया' प्रस्तुत करता है। दलित होने के नाते समाजिक बहिष्कार और एक आंख से अन्धा होने के कारण पारिवारिक उपेक्षा के शिकार तुलसीराम दोहरी मार झेलते हैं। ज्ञान और शिक्षा पाकर वे जिस मुकाम तक पहुंच चुके हैं जो उनके लिए बहुमूल्य है। हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था निजीकरण के दौर से गुजर रही है और सरकारी नीतियां, प्राथमिक शिक्षा से उच्च शिक्षा तक नकारात्मक बनती जा रही है। 'मुर्दहिया' को पढ़ते हुए इसका एहसास हो जाता है कि हमारे देश में प्रतिभा को निखारने के लिए उचित शिक्षा तंत्र की आवश्यकता है। आत्मकथा में जाति बदलकर रहने का प्रकरण सामने आता है— "जातिगत यथार्थ के कारण बार-बार नए कमरे की तलाश में मैं दोहरा जीवन जी ने लगा था मैं विश्वविद्यालय में दलित होता था और शहर के कमरे में आते ही 'पर्मा जी' बन जाता था।"²⁰

दलित आत्मकथाएं व्यक्तिगत होते हुए भी सामाजिक होती हैं। एक सामान्य व दलित बालक शिक्षा के मंदिर में अलग-अलग व्यवहार पाता है। दलित बालक शिक्षक के दो रूप देखता है एक सवर्ण के लिए दूसरा दलित के लिए। दलित अक्षर ज्ञान को हासिल करने में कदम-कदम पर अपमान का शिकार होता है। प्योराज सिंह बेचैन हो या टाकभौरे या डॉ. उमेश कुमार सिंह। सभी की पीड़ा काफी हद तक एक सी लगती है। लगन, जुनून और सहन करने की भावना समान रही है।

डॉ. उमेश कुमार सिंह की आत्मकथा 'दुख-सुख के सफर में' दलित समाज की कथा रही है। इस आत्मकथा में दलित वर्ग, दलित समाज केन्द्र में रहा है दलित समाज की गरीबी हिन्दू समाज की देन रही है। आत्मकथा में आत्मकथाकार का बचपन, जन्म, बीमारी, समाज परिवेश और शिक्षा के अलावा कर्ज गरीबी आम दलित आत्मकथाओं से बिल्कुल अलग है। दलितों, पिछड़ों के लिए शिक्षा किसी मजाक से कम नहीं रही है। दलितों में शिक्षा का माहौल बिल्कुल भी नहीं होता। स्कूलों में भी जातिदंश बना रहता है। आत्मकथाकार ने भी जातिदंश को भोगा है आत्मकथा के कुछ अंश— "सवर्ण छात्र टाकुर के यहां ठहरते हैं, दलित छात्र गंदी नाली के चबुतरे पर रहते हैं। पानी जब चाहे पी लेना संभव नहीं है। इन्हें पानी के लिए सवर्ण बच्चों का इंतजार करना पड़ता था।"²¹ जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं कि "विशम

परिस्थितियों से जूझते हुए भी हमने क्या मुकाम हासिल किया है दलित आत्मकथाओं में यह बताना सही है बहुत से लोगों के लिए साथ-साथ दूसरों के लिए क्या किया है क्या दिया है इसका उल्लेख भी होना चाहिए।²²

शिक्षा में भी दलितों के साथ दुर्व्यवहार होता था। यहां भी सवर्ण हमेशा ही आगे रहते थे। दलित आत्मकथाओं की तुलना की बात करें तो सभी आत्मकथा लगभग एक जैसे ही रही है। 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा में आत्मकथाकार के साथ कम दुर्व्यवहार रहा है। समाज में भी दलित होने का दंश ज्यादा नहीं भुगतना पड़ा। वहीं स्कूल में भी शिक्षकों का व्यवहार ठीक ही रहा है। बल्कि दलित आत्मकथाकारों को जाति और शिक्षा के नाम पर सवर्ण समाज और शिक्षकों से दो चार होना ही पड़ा। लेखिक को वैसे तो अन्य दलित आत्मकथाकारों की तरह शिक्षकों से कोई कटु वचन सुनने और बिना वजह मार खाने के उदाहरण नहीं मिले। लेकिन शिक्षिका उनसे काम लेती थी जबकि अन्य विद्यार्थियों से कुछ नहीं कहती थी। कुछ भी करना होता तो लेखिका से ही करने को कहती। लेखिका को हमेशा इस बात का डर लगा। रहता था कि कहीं उसकी जाति का भेद न खुल जाए। यहां पर लेखिका को वैसा संघर्ष नहीं करना पड़ा जैसे बाकी दलित आत्मकथाकारों को करना पड़ा।

अध्ययन का उद्देश्य

दलित आत्मकथाएं जितनी व्यक्तिगत दलन, पोषण, उत्पीड़न का परिचय करवाती हैं उतना ही दलित समाज की समस्याओं से भी रुबरु करवाती हैं जिसकी वास्तविकता से समाज अनभिज्ञ है। दलित आत्मकथाओं ने सवर्ण समाज व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोष व्यक्त किया है। मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा की भूमिका में लिखते हैं।— "व्यक्ति हो या समाज उसे अपने हक, अधिकार स्वयं ही लेने होते हैं। बैसाखियों पर जीवन नहीं चलता। चलेगा भी तो कितने दिन....."²³ दलित आत्मकथाओं में आत्मकथाकारों ने भोगे हुए यथार्थ, संघर्ष, जातिदंश, परिवेश समस्या, पारिवारिक व दाम्पत्य संबंध का दंश, आर्थिक सबलता के लिए प्रयास अपमान और शोषण का चित्रण प्रमुखता से किया है।

निष्कर्ष

उपरोक्त आत्मकथाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय वर्ण व्यवस्था ने दलित जाति रूप में समाज के एक बड़े समुदाय को समस्त मानवीय, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अधिकारों से हजारों वर्षों तक वंचित रखने का अमानवीय कार्य किया। शिक्षा पद्धति के विरुद्ध भी अपना आक्रोषपूर्ण विरोध दर्ज कराते हुए दलित समाज में शिक्षा के महत्त्व को रेखांकित किया है। अपने-अपने अनुभवों के आधार पर आत्मकथाकारों ने जाति, शिक्षा, रुढ़ि, अंधविश्वास और गलत रीति रिवाज पर गहरा आक्षेप किया है। दलित आत्मकथाकार समाज के सम्पूर्ण दलित समाज की समस्या को दर्शाते हैं लेकिन दलित महिलाओं की क्या स्थिति है? उसको उजागर करने में हिचकते हैं। जब इनको ये पता होता है कि एक दलित के साथ सवर्णों का व्यवहार कैसा होता है? तो ये बात तो बिल्कुल साफ है कि निचले तबके की स्त्री के साथ और भी ज्यादा अमानवीय व्यवहार होता होगा। डॉ.

धर्मवीर अपनी आत्मकथा में स्त्री चेतना का वह रूप उजागर करते हैं जो दोनों महिला दलित लेखिकाओं के विपरीत जाता है। ये दलित विद्वान अंबेडकरी चेतना से सम्पन्न हैं लेकिन दलित महिला के दर्द, उत्पीड़न, पति सुख की अनुभूति से मुक्त रहा है। टाकभौरे जहां परिवार में पति से पत्नीगत हक के लिए अकेली लड़ती है, वहीं धर्मवीर पत्नी के हक छीनने वाले साबित होते हैं। दलित लेखकों में धर्मवीर एकमात्र विवादास्पद आत्मकथाकार रहे हैं जो टाकभौरे के विपरीत हैं, दूसरे छोर पर हैं। 'मेरी पत्नी और भेड़िया' में वे हर पाठ में पत्नी को दोशी, अपराधी और कटघरे में खड़ा करते हैं। वे स्वयं जज की भूमिका में पत्नी को दोशी करार देते हैं ऐसे में वे महिला विरोधी और टाकभौरे की तुलना में एक पक्षीय लगते हैं। अन्य दलित आत्मकथाओं महिला या पत्नी का जिक्र नहीं आता है। अधिकांश रचनाओं में जाति उत्पीड़न, उपेक्षा और भेदभाव के दंश होने से महिला चेतना का अभाव रहा है। बैसन्त्री एक मात्र आत्मकथाकार है जिनकी महिला चेतना तुलनीय है लेकिन वे दूसरे स्तर की महिला हैं जो पति से मुक्ति चाहती है जबकि टाकभौरे पति के साथ रहकर लड़ती है। इस अर्थ में टाकभौरे का संघर्ष सामाजिक व दलित महिला चेतना के कई आयामों से ओत-प्रोत है। टाकभौरे न केवल धर्मवीर अपितु बैसन्त्री से अधिक महिला चेतना से ओत-प्रोत रही है। यह रचना दलित महिलाओं में जीने का जज्बा, संघर्ष ही चेतना भरती है तो 'मेरी पत्नी और भेड़िया' स्त्री विरोधी रचना के रूप में जानी जायेगी। मोहनदास नैमिशराय ने अपने अपने पिंजरे में महिलाओं के भोग्या रूप को ही चित्रित किया है उनकी चेतना नजर नहीं आती। 'दोहरा अभिशाप' 'षिकजे का दर्द' आत्मकथा चूंकि इनको लिखने वाली महिलाएं हैं तो स्वाभाविक बात है कि महिला चेतना होगी। इन्होंने समाज के हर पहलू पर ध्यान दिया है जो सराहनीय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- 1 हंस मासिक पत्रिका, अप्रैल 2011 पृ.सं. 37
- 2 हंस त्रैमासिक पत्रिका, अगस्त 2004 पृ.सं. 106
- 3 मोहनदास नैमिशराय, अपने-अपने पिंजरे भाग-2 भूमिका पृ.सं. 11
- 4 ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन पृ.सं. 15
- 5 श्यांराज सिंह बैचन, मेरा बचपन मेरे बंधों पर पृ.सं. 11
- 6 दोहरा अभिशाप, कौसल्या बैसन्त्री पृ.सं. 27
- 7 अपने-अपने पिंजरे मोहनदास नैमिशराय पृ.सं. 22
- 8 भारत में जाति प्रथा जे. एच. हटन पृ.सं. 45
- 9 ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन पृ.सं. 11-12
- 10 मेरा बचपन मेरे कंधों पर, प्योराज सिंह बैचन पृ.सं. 12
- 11 शिकजे का दर्द सुशीला टाकभौरे पृ.सं. 19
- 12 दोहरा अभिशाप, कौसल्या बैसन्त्री पृ.सं. 31
- 13 डॉ. रमेशचन्द्र मीणा (एक दलित छात्र के जीवन का सच-लेख) पुस्तकवार्ता पृ.सं. 48
- 14 अपने-अपने पिंजरे मोहनदास नैमिशराय पृ.सं. 51
- 15 ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन पृ.सं. 35
- 16 हंस पत्रिका अप्रैल 2011 पृ.सं. 40
- 17 सूरजपाल चौहान, तिरस्कृत पृ.सं. 13

- 18 मोहनदास नैमिषराय, अपने-अपने पिंजरे पृ.सं. 76
19 दुख सुख के सफर में, डॉ. उमेश कुमार सिंह पृ.सं.
54
20 मुर्दाहिया, तुलसीराम पृ.सं. 41

- 21 डॉ. रमेशचन्द्र मीणा (एक दलित छात्र के जीवन का
सच-लेख) पुस्तकवार्ता पृ.सं. 47-48
22 हंस पत्रिका अप्रैल 2011 पृ.सं. 37
23 मोहनदास नैमिषराय, अपने-अपने पिंजरे भाग-2,
भूमिका